

# 21 वीं सदी के प्रारंभ में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद

हमारी समझ में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कोई अलग परिघटना नहीं, साम्राज्यवाद का ही सांस्कृतिक मोर्चा है। जेम्स पैट्रस भी शायद यही सोचते हों और इस परिघटना पर आवश्यक बल देने के लिए इसे अलग से नाम दे दिया हो। (यह विवाद भी महत्त्वपूर्ण है पर इस पर कभी अलग से) इस लेख में सांस्कृतिक जगत में बढ़ते साम्राज्यवादी हमले की सूक्ष्मता, व्यापकता और प्रभाव का समुचित विश्लेषण है। हमें विश्वास है कि पाठक इससे उद्देलित होंगे। प्रतिक्रियाएं आमंत्रित हैं।

**मि**डिया संस्कृति, जो “कामचलाऊ” को महिमामंडित करती है, अमेरिकी पूंजीवाद को जड़हीनता-भरती करने और बर्खास्त करने का उसका अधिकार तथा समुदाय की परवाह किए बिना पूंजी के संचालन को प्रतिबिम्बित करती है। “गतिशीलता की स्वतंत्रता” का मिथक पूंजी की बदलती मांगों के समक्ष अपने समुदाय की जड़ों को स्थापित करने और मजबूत बनाने में लोगों की अक्षमता को प्रतिबिम्बित करता है। उत्तरी अमेरिकी संस्कृति अस्थायी और निर्वैयक्तिक संबंधों को “स्वतंत्रता” के रूप में महिमामंडित करती है, जबकि वास्तव में यह बहुराष्ट्रीय शक्ति के मातहत जनसमुदाय को नौकरशाही के अधीन कर देने का परिचायक है। उत्तरी अमेरिकीकरण के अंतर्गत आधुनिकता के नाम पर परम्परागत एकजुटता का अंधाधुंध हमला, व्यक्तिवाद के नाम पर वर्ग उत्तरदायित्वों पर प्रहार, व्यक्तित्वों पर केन्द्रित व्यापक मीडिया प्रचार के जरिए जनतंत्र को आधारहीन बनाना शामिल है।

नई सांस्कृतिक निरंकुशता बाजार के एकमात्र सर्वव्यापी प्रवचन के बार-बार परायण, उपभोक्तावाद की एकरूप संस्कृतिक और भ्रष्ट चुनाव प्रणाली के जरिए जड़ जमाती है। मीडिया की नई निरंकुशता श्रेणीबद्ध राजसत्ता और आर्थिक संस्थाओं के चतुर्दिक डटी हुई है, जो अंतरराष्ट्रीय बैंकों के हैड क्वार्टर से लेकर सुदूर गांवों तक पहुंचती है। तीसरी दुनिया में अमेरिकी संस्कृति के घुसपैठ की सफलता का रहस्य है-आर्थिक और सामरिक प्रभुत्व की व्यवस्था के कारण पैदा होने वाली विपत्ति से पलायन के लिए मायाजाल सृजन की इसकी क्षमता।

नए सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का अनिवार्य अवयव है-व्यावसायिकता, कामुकता और रूढ़िवादिता का विलयन, जिनमें से प्रत्येक को निजी जरूरतों को व्यक्तिगत आत्मबोध की आदर्शकृत अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दिन प्रतिदिन के जानलेवा कामों में लगे, जीने के लिए रोज-रोज संघर्ष करते, गंदगी और अधोगति के बीच जी रहे तीसरी दुनिया के लोगों के लिए

उत्तरी अमेरिकी मीडिया का मायालोक धर्मप्रचारक की तरह, “किसी बेहतर चीज” का चित्रण करता है, भविष्य में बेहतर जीवन की आशा दिलाता है, या कम से कम दूसरों को मजा लेते देखना भी खुद को वैकल्पिक आनन्द प्रदान करता है।

यदि हम क्रांतिकारी परिस्थितियों के परिपक्व होते जाने के बावजूद क्रांतिकारी रूपांतरण के न होने का कारण समझना चाहते हैं, तो हमें राज्य के हिंसा गहरे मनोवैज्ञानिक प्रभाव, राजनीतिक आतंकवाद और साम्राज्यवादी देशों द्वारा प्रचारित व उत्पीड़न जनता द्वारा अपनाए गए सांस्कृतिक वैचारिक मूल्यों के गहरे प्रभाव पर अवश्य पुनर्विचार करना होगा। 70 के दशक और 80 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों की राज्य हिंसा ने दीर्घकालिक व व्यापक मनोवैज्ञानिक क्षति पहुंचाई, जैसे-रेडिकल पहलकदमी से भय, सामूहिकता के प्रति अविश्वास, घृणित शासकों के प्रति एक तरह की लाचारी के भाव इत्यादि। आतंक ने “जन-जन” को अन्तर्मुखी बना दिया है, उन्हें अपनी निजी दुनिया की ओर मोड़ दिया है।

तदन्तर, “आर्थिक आतंकवाद” के रूप-नव-उदार नीतियों का परिणाम है फैक्ट्रियों की तालाबंदी, अस्थायी कार्यों में वृद्धि, कम मजदूरी वाले निजी उद्योगों में कई गुने की वृद्धि और मजदूरों को दिए गए कानूनी संरक्षता की समाप्ति। इन नीतियों ने श्रमिक वर्ग और जन-समुदायों को और अधिक हिस्सों में बांट दिया है। विघटन, अविश्वास और निजीकरण के इस परिप्रेक्ष्य में साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक संदेश को उर्वर जमीन मिली, जिसने दुर्बल लोगों की संवेदनशीलता का दोहन करते हुए व्यक्तिगत अलगाव, आत्मकेन्द्रित अंधी दौड़ और अत्यल्प संसाधनों के लिए आपस में गलाकाटू प्रतियोगिता को प्रोत्साहित किया और गहरा बनाया।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और इसके द्वारा प्रोत्साहित मूल्यों ने शोषित जनों को अपनी लगातार गिरती स्थिति के खिलाफ सामूहिक प्रतिवाद से रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। तीसरी दुनिया में फैलाए गए प्रतीकों, छवियों और विचारों ने वर्गीय शोषण और बढ़ते कंगालीकरण के खिलाफ सामूहिक

कार्यवाई के लिए वर्ग-चेतना आधारों के निर्माण के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोध खड़ा किया है। साम्राज्यवाद की महान विजय केवल भौतिक मुनाफे तक ही सीमित नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष रूप से जनसंचार माध्यमों के जरिए और अप्रत्यक्ष रूप में बौद्धिक व राजनीतिक वर्ग को गिरफ्त में लेकर (या उनके द्वारा आत्म समर्पण के द्वारा) उसने उत्पीड़ित जनता की चेतना के अन्तस्थल पर भी आधिपत्य जमा लिया है। जहां तक व्यापक क्रांतिकारी राजनीति के पुनर्जीवन की सम्भावना का प्रश्न है, केवल शोषण की परिस्थितियों के खिलाफ ही नहीं, बल्कि उस संस्कृतिक के खिलाफ भी खुला संघर्ष छेड़ना होगा, जो लोगों को पराधीनता का शिकार बनाती है।

सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के दबावों के बरक्स यह बहुत बड़ी हकीकत है-पश्चिमी बहुराष्ट्रीय बैंकों द्वारा थोपी गई कंगाली व शोषण का तथा अमेरिका से खरीदे गए हथियारों के बल पर पुलिस फौज द्वारा दमन का निजी अनुभव-रोज-रोज की हकीकत, जिसे पलायनवादी मीडिया बदल नहीं सकती। तीसरी दुनिया के जनता के दिमाग में लगातार एक संघर्ष चल रहा है-व्यक्तिगत पलायन के (पश्चिमी मीडिया द्वारा पैदा किए गए) पिशाच और सहजानुभूत ज्ञान के बीच संघर्ष कि सामूहिक कार्यवाई और दायित्व ही एकमात्र व्यवहारिक प्रत्युत्तर हैं। सामाजिक लामबंदी के आरोह के समाय एकजुटता के सहगुण की मिसालें कायम की जाती हैं। पराजय और ह्रास के समय व्यक्तिगत लोभ के पिशाच को छूट मिल जाती है।

लोगों को दिग्भ्रमित करने और धोखा देने की सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की एक चरम सीमा होती है जिसके आगे सार्वजनिक बहिष्कार का प्रारम्भ होता है। टीवी में दिखनेवाले “पकवानों से बजे टेबुल” खाली रसोईघर के अनुभव के साथ विरोधाभास दर्शाते हैं। मीडिया के पात्रों की कामुक शरारतें घर के रोते-धिधियाते भूखे बच्चों से टकराती हैं। राह चलते कोई परिचित मिल जाए, तो उसे कोकाकोला पिलाना शराब की दावत देने के समान लगता है। धनी बनाने के वादे बार-बार प्रवर्चित लोगों के लिए अपमानजनक बन जाते हैं।

हर तरफ से उन पर चांदमारी जारी रखी। कभी उन्हें गुप्त-रूप से कम्युनिस्ट कहा, कभी साम्राज्यवादी शक्तियों का जरखरीद गुलाम और कभी कुछ और। यों कांग्रेस पार्टी वाम और दक्षिण-पंथियों की अंबरेला पार्टी थी और जैसा वर्ग-चरित्र कांग्रेस का था, उसमें यह कुछ अजब ही था कि वे 17 वर्ष प्रधानमंत्री बने रहे। आज जबकि हमारी राजनीति और मध्यम-वर्ग के मन-मस्तिष्क पर घोर साम्प्रदायिक-फ़ासीवादी ताकतें हावी हैं और सच्चे मार्क्सवादी हाशिए पर चले गए हैं तो रह-रह कर यह विचार भी आ जाता है कि ठीक है नेहरू से अनेक भूले हुई होंगी, परंतु अपने को सदैव सही समझने वाले और हमेशा नुकाचीनी में व्यस्त नेताओं, विद्वानों और संगठनों ने क्या बेशुमार गलतियां नहीं कीं? बलराज का ख्याल था कि नेहरू के प्रति, अपने को जनवादी समझने वालों का रवैया असंतुलित और संवेदनहीन था।

बलराज के विचारों को और विस्तार से समझने के लिए उनका आलेख ‘हिन्दी साहित्यकारों के नाम पत्र’ भी महत्त्वपूर्ण है। यह लगभग 29 पृष्ठ का पत्र बलराज की विचारधारा का दर्पण है। इस

दीर्घकालिक कंगाली और चतुर्दिक पतन जन-संचार माध्यमों के मायालोक की तड़क-भड़क और अपील को धूल-धूसरित कर देते हैं।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के झूठे वादे किसी और ही देश-काल की चीज लगने लगते हैं और कड़वे मजाक का विषय बन जाते हैं। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की अपीलें सामूहिकता के मजबूत बंधनों द्वारा सीमाबद्ध कर दी जाती हैं, जिनकी अपनी स्थानीय व क्षेत्रीय मूल्य-मान्यताएं होती हैं। जहां वर्ग, नस्ल, लिंग और नृजातिय (एथनिक) बंधन टिकाऊ होते हैं और सामूहिक कार्यवाई की प्रक्रिया तीव्र होती है, वहीं जन संचार माध्यमों का प्रभाव सीमित या बहिष्कृत कर दिया जाता है।

जब तक पूर्ववर्ती संस्कृतिकयां और प्रथाएं जिन्दा बची रहती हैं, वे एक “घनिष्ठ दायरा” बनती हैं, जो उन सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रथाओं को एकीकृत करता है, जो अभ्यान्तरिक और आधारभूत होती हैं, न कि उर्ध्वमुखी और बहिर्मुखी। ऐसे अनेक समुदाय हैं जिनमें बाजार के प्रभुत्व से जुड़े “आधुनिकतावादी” उन्नतिपरस्त व्यक्तिगत प्रवचनों के प्रति स्पष्ट नकार मौजूद होता है। चिरस्थायी एकजुटता और साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों की ऐतिहासिक जड़ें, उन समुदायों में देखने योग्य होता है, जो आपस में नृजातिय और पेशागत बंधनों से घनिष्ठतापूर्वक जुड़े होते हैं, जैसे-खान मजदूरों, मछुआरों या वन मजदूरों की बस्ती, शहरी क्षेत्रों को औद्योगिक केन्द्र इत्यादि। जहां कहीं समान पेशे, समुदाय या वर्ग के लोग सामूहिक सांस्कृतिक परम्पराओं और प्रथाओं की ओर अग्रसर होते हैं, वहीं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पीछे हटने लगता है।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की सफलता केवल छ लिनियोजन के तकनीकी कौशल पर ही नहीं, बल्कि इस बात पर भी निर्भर करती है कि राजसत्ता जन साधारण को कठोर बना देने, उन्हें टुकड़े-टुकड़े में बांट देने और समतामूलक समाज में उनकी सामूहिक आशा और विश्वास का अपहरण कर लेने में कितना समर्थ है। सांस्कृतिक मुक्ति के लिए व्यक्तियों और वर्गों को “अधिकार प्रदान करना” ही पर्याप्त

नहीं, बल्कि यह उस सामाजिक-राजनीतिक शक्ति के विकास पर निर्भर करता है, जो सांस्कृतिक पराजय का मार्ग प्रशस्त करने वाले राज्य आतंक का मुकाबला करने में समर्थ हों। सांस्कृतिक स्वायत्तता सामाजिक शक्ति पर निर्भर करती है और सामाजिक शक्ति को शासक वर्ग अपनी आर्थिक-राजनीतिक शक्ति के लिए खतरा समझता है। जिस तरह सांस्कृतिक संघर्ष स्वायत्तता, सामूहिकता और एक जुटता के मूल्यों द्वारा सुदृढ़ होता है, जो सामाजिक परिवर्तन की चेतना जागृत करने के लिए अनिवार्य है, उसी तरह वर्गीय व राष्ट्रीय पहचान के सांस्कृतिक आधारों को मजबूत बनाने के लिए राजनीतिक व सैन्य शक्ति का होना जरूरी है।

यह अत्यंत जरूरी है कि वामपंथ एक नए समाज के स्वपन और विश्वास का पुनर्सृजन करे, जो भौतिक मूल्यों के साथ-साथ आत्मिक मूल्यों पर भी, कार्य के साथ-साथ सौन्दर्य के मूल्यों पर भी आधारित हो। परस्पर निर्भर-जन उदारता और गरिमा से ओत-प्रोत हों। जहां उत्पादन प्रणाली को चिरस्थायी व्यक्तिक जुड़ावों और दोस्ती को मजबूती व गहराई प्रदान करने वाले प्रयासों के मातहत रखा जाए।

सामाजिक को सामाजिक और सामूहिक होने के साथ-साथ अकेला व आत्मीय होने को भी मान्यता देना होगा। सबसे बड़ी बात कि यह नया स्वपन लोगों को अवश्य प्रेरित करेगा, क्योंकि यह केवल शासन से स्वतंत्र होने की उनकी इच्छा को ही नहीं, बल्कि एक अर्थपूर्ण व्यक्तिगत जीवन के सृजन की स्वतंत्रता को भी प्रतिध्वनित करता है, जो भावनात्मक-अत्यांत्रिक संबंधों से अनुप्राणित होता है, जो रोज बरोज के कामों से कहीं ज्यादा उत्कृष्ट होता है और जो लोगों को लगातार संघर्षरत रहने की प्रेरणा देता है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद अनूठेपन, क्षणिक संबंधों और व्यक्तिगत छल प्रपंच के ऊपर तो फलता-फूलता है, लेकिन व्यक्तिगत ईमानदारी, स्त्री-पुरुष समानता और सामाजिक एकता के विश्वसनीय अन्तरंग सूत्रों पर आधारित किसी आदर्श पर कतई नहीं।

समाप्त

रीति-रिवाजों की भी पुष्टि की, वर्णभेद की अन्यायपूर्ण व्यवस्था को पिछले कर्मों का फल कहकर सही साबित किया और उसे मजबूत बनाया। इसी के कारण हमारे सामाजिक जीवन में ठहराव पैदा होता रहा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता खत्म होती रही। मध्यकाल में इस्लाम के हमलों ने इस ठहराव को जबरदस्त चोट पहुंचाई। ...उपनिषदों के अध्यात्मवाद का मुस्लिम सूफ़ीवाद के साथ संगम इस युग की विशेषता है...कबीर, शेख फ़रीद, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, नामदेव, तुकाराम, और अन्य भक्ति-लहर के अनेक दूसरे संतों-गुरुओं ने नए जीवन का संचार किया और कट्टरता को नष्ट किया। उनकी वाणी बर्बर रीति-रिवाजों, गुलामी, जुल्म-जब्र और अन्य अन्याय के खिलाफ उठने वाले जन-आन्दोलनों का आधार बनी। उनकी प्रेरणा से भाषाएं, संगीत, साहित्य, कला और शिल्प उन्नति के नए शिखर पर पहुंच गए। शिक्षा और सभ्यता, जो अब तक महलों में निवास करती थी, जनसाधारणों के घरों की शोभा बनी।

गांधी और नेहरू के अनूठे संबंधों की व्याख्या करने के बाद कि कैसे दोनों ने

एक-दूसरे की विचारधाराओं को प्रभावित किया, बलराज ने रेखांकित किया कि कट्टर गांधीवादी गांधी जी को केवल संत-महात्मा के रूप में पेश करके सागर को गागर में बंद करने की व्यर्थ कोशिश करते हैं, क्योंकि उनमें यूरोप की सभ्यता को भी उतनी ही गहराई से समझने की योग्यता थी, जितनी की भारतीय सभ्यता को। बलराज की समझ में यह कहना पूर्णतः उचित नहीं है कि मार्क्सवाद और गांधीवाद में ईट-कुत्ते की दुश्मनी है। यूरोप की असहनशील विचारधारा ने मार्क्स को नास्तिक घोषित कर के जिहाद खड़ा कर दिया था, ऐसा ही डार्विन के खिलाफ भी हुआ था। परन्तु मार्क्सवाद से गहरा मतभेद होने पर भी गांधी जी ने अपनी रचनाओं में मार्क्स और लेनिन का जिक्र बड़े आदर के साथ किया है और राष्ट्रीय आन्दोलनों में कम्युनिस्टों को साथ रखने में परहेज नहीं किया। ‘नेहरू की नीतियों में कितना मार्क्सवाद था और कितना गांधीवाद यह बताना अत्यंत कठिन है’, यह सवाल उठाकर, बलराज ने लिखा कि ‘जिस दिन से नेहरू ने शासन की बागडोर संभाली, हमारे देश के कुछ बुद्धिमानों ने दायें-बाएं,

विचारोत्तेजक लेख को पढ़ना हर बलराज साहनी के प्रशंसक के लिए जरूरी है। इसमें वे हिन्दी-उर्दू के रिश्तों (खासतौर से वह दौर जब प्रलेस के हिन्दी और उर्दू के लेखकों में दरार पड़ी), भाषा संबंधी अनुभव लंदन प्रवास के अनुभव, भारत में बरतावनी सरकार की भूमिका, मार्क्सवाद, खड़ी बोली, मध्य-युगीन साहित्य, अद्वैतवाद की परंपरा, नस्ली एकता, भक्ति-लहर और संस्कृतियों के सम्मिश्रण जैसे विषयों पर विहंगम-दृष्टि डालते हैं।

बलराज के लिखे संस्मरण भी खूब हैं। इनमें ‘रवीन्द्र नाथ ठाकुर कुछ यादें’ और ‘महजूर : कश्मीर का राष्ट्रीय कवि’ विशेष तौर से पठनीय हैं। ‘रूसी सफ़रनामा’, ‘पाकिस्तान सफ़रनामा’ और ‘फ़िल्मी आत्मकथा’ पुस्तक रूप में छपीं और लोकप्रिय हुईं। ‘फ़िल्मी आत्मकथा’ पहले-पहल अमृतराय द्वारा संपादित ‘नई कहानियां’ में धारावाहिक रूप से छपी थी। फिर पंजाबी पत्रिका ‘प्रीत लड़ी’ में भी इसका धारावाहिक प्रकाशन हुआ। सन् 1974 में यह पुस्तक रूप में छपी और बड़े शौक से पढ़ी गई। बलराज ने कई छिटपुट लेख भी लिखे जिनमें ‘सिनेमा और स्टेज’,

‘अभिनय कला’, ‘कलाकार यूनियन’, ‘बिमल राय’ और ‘पृथ्वीराज’ और ‘नाट्यकला’ खासतौर से उल्लेखनीय हैं। बलराज जी की रचनाओं का एक संग्रह वर्षों पूर्व डॉ. बलदेव राज गुप्ता ने किया था। यह एक श्लाघनीय प्रयास था।

बलराज साहनी सच्चे अर्थों में एक जन कलाकार थे। एक अभिनेता, लेखक और आदर्शवादी जीवन-धारा। अपने चाहने वालों की स्मृति में वे स्थायी रूप से अंकित हैं। उनकी स्नेहिल मुस्कान, सहृदयता, गर्मजोशी और जीवन्त छवि कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। मुझे उनका वह प्रसिद्ध भाषण याद आता है, जिसमें उन्होंने कहा था : ‘समाजवाद आ सके इससे पूर्व हमें ऐसा वातावरण बनाना होगा जहां धन-दौलत का आधिक्य आदर से नहीं, अनादर से देखा जाएगा। ऐसे वातावरण का सृजन करना होगा जहां योग्यता, हुनर, कला और अविष्कारशीलता का आदर हो। इसके लिए नई सोच चाहिए और ऐसा साहस कि हम सोचने के पुराने ढंग से मुक्ति पा लें। क्या हम मन की ऐसी क्रांति के कहीं आस-पास हैं?’

- राजेन्द्र चोपड़ा